आफत के अभयारण्य

प्रमोद भार्गव

आदिवासी बस्तियों को उजाड़कर भारत सरकार का वन अमला भारत में फिर से चीतों के पुनर्वास की तैयारियों में जुट गया है। अफ्रीका से लाए जाने वाले इन चीतों के नए आश्रय स्थल मध्यप्रदेश के कूनो पालपुर व नौरादेही और राजस्थान के शाहगढ़ व जैसलमेर के थार इलाकों में तलाशे जा रहे हैं। फिलहाल प्रस्तावित इन वनखण्डों में चीतों के प्रकृतिजन्य आहार, प्रजनन व आवास की दृष्टि से सबसे माकूल श्योपुर ज़िले का कूनो-पालपुर अभयारण्य माना जा रहा है। भारत सरकार ने यहां चीते बसाए जाने का प्रस्ताव तैयार कर मध्यप्रदेश सरकार से सैद्धांतिक स्वीकृति भी ले ली है। इधर मध्यप्रदेश के मुख्यमंत्री शिवराज सिंह चौहान ने भी कूनो-पालपुर और नौरादेही में चीतों को बसाने की मांग भारत सरकार से की है।

यहां गौरतलब यह भी है कि इस वनखण्ड को गुजरात के गिरवन के सिंहों को बसाने के लिए 65 करोड़ रुपए खर्च कर विकसित किया गया है। 26 आदिवासी ग्राम बेरहमी से अपनी जड़ों से उजाड़ दिए गए हैं। डेढ़ दशक के बाद भी इन ग्रामवासियों का न तो अब तक समुचित पुनर्वास हो पाया है और न ही इन्हें अपनी अचल संपत्ति का पूरा मुआवज़ा मिला है। मुआवज़े की जायज़ मांग को लेकर आदिवासियों, वनकर्मियों और पुलिस के बीच कई हिंसक झड़पें भी हो चुकी हैं। मगर कूनों में गिरवन के एक भी सिंह का पुनर्वास संभव नहीं हो पाया है। गुजरात सरकार ने मध्यप्रदेश सरकार को सिंह देने से इन्कार कर दिया है।

जब हम देश के सिंहों का देश में ही पुनर्वास करने में असफल साबित हुए हैं तो उस अफ्रीकी चीते का देश के जंगलों में क्या पुनर्वास कर पाएंगे जिसकी करिश्माई दौड़ के लिए कई वर्ग कि.मी. के खुले मैदान और आहार के लिए मुख्य रूप से काले हिरण चाहिए। वर्तमान में न तो कूनो में जंगलों के बीच खुले मैदान हैं और न ही काले हिरण। ऐसे में चीता बसाने की तीन सौ करोड़ की इस भारी भरकम योजना में कुछ नए गांव उजाड़े जाएंगे और सैलानियों का आवागमन सुविधाजनक बनाने के लिए जंगल काटकर नई सड़कों का जाल बिछाया जाएगा।

कहा जा रहा है कि यदि यहां चीतों का पुनर्वास हो जाता है तो यह देश ही नहीं दुनिया का ऐसा अनूठा अभयारण्य होगा जिसमें बिल्ली प्रजाति के आठ बड़े व दुर्लभ वन्य प्राणियों में से चार को रहवास सुलभ होगा। तेंदुए यहां पहले से ही सूचीबद्ध हैं। राजस्थान के रणथम्भौर राष्ट्रीय उद्यान से छलांग लगाकर आए बाघ कूनो से लेकर मुरैना तक के जंगल में दिखाई दे रहे हैं। भारतीय वन्यजीव संस्थान के एक सर्वेक्षण के अनुसार शिवपुरी से श्योपुर तक जाने वाली छह सौ किलोमीटर लंबी वन पट्टी पर 2006 में छह बाघ भी चहल-कदमी करते देखे गए थे। गिर से सिंह लाकर कूनो में छोड़े जाने का मामला देश के सर्वोच्च न्यायालय में विचाराधीन है ही।

जंगल में एक ऐसे जीव को नैसर्गिक परिवेश में रहने के लिए कम से कम बीस वर्ग कि.मी. क्षेत्र की ज़रूरत होती है। फिलहाल कूनो का कुल क्षेत्रफल 375 वर्ग कि.मी. है। इस हिसाब से कूनो में बमुश्किल बीस बाघ, चीता, सिंह अथवा तेंदुओं में से किसी एक प्रजाति को प्राकृतिक आवास व आहार उपलब्ध हो सकता है। दूसरी ओर, भारतीय वन्यजीव संस्थान और भारतीय वन्यजीव ट्रस्ट के विशेषज्ञों की सलाह है कि कूनो में साठ चीते एक साथ रह सकते हैं। इसे आधार मानकर योजना को अमल में लाने के प्रयास जारी हैं। अगले तीन सालों में विभिन्न नस्लों के चीते ईरान, नमीबिया तथा दक्षिण अफ्रीका से लाए जाएंगे। यदि इन चीतों का पुनर्वास संभव हो जाता है तो बीस साल के भीतर इनकी संख्या बढ़कर साठ हो जाने का अनुमान है। इतने चीतों की हवाई छलांग और इनके लिए पर्याप्त चारे के लिए हिरणों को भी पर्याप्त आहार व प्रजनन का क्षेत्र विकसित करना होगा। इस हेतु करीब एक सौ नए गांव उजाड़ दिए जाएंगे। बेदखली की यह कार्रवाही की जाती है तो स्वाभाविक है कि आदिवासी व अन्य ग्रामवासी जंग के लिए कमर

कसेंगे। वैसे भारत सरकार के शुरुआती प्रयासों को ही ईरान ने चीता देने से इन्कार करके पलीता लगा दिया है।

चीतों को जैसलमेर सड़क स्थित मोकला और सोनू गांव की मरुभूमि में बसाने का एक प्रस्ताव भी लंबित है। यह पट्टी करीब एक हज़ार कि.मी. लंबी है। यहां चीतों को आवास की सुविधा तो उसकी प्रकृति के अनुकूल है लेकिन खाद्य-श्रृंखला का सर्वथा अभाव है। इस दृष्टि से यहां चीतों के पुनर्वास के पूर्व हिरणों की प्रजातियों का पुनर्वास बड़ी संख्या में करना होगा। यह इलाका दुर्लभ पक्षी सोन चिरैया का भी आश्रय स्थल है। चीते की तेज़ रफ्तार इस पक्षी के अस्तित्व को ही संकट में डाल देगी क्योंकि झरबेरियों में ही रहने का आदी यह पक्षी लंबी उड़ान नहीं भर सकता। इस इलाके में करीब दस हज़ार लोग रहते हैं। इनके विस्थापन की समस्या भी खड़ी होगी। ये लोग 4367 हैक्टर भूमि पर खेती किसानी करके और करीब 31 हज़ार 827 मवेशी पालकर अपनी आजीविका चलाते हैं।

कृत्रिम रूप से चिड़ियाघरों में पाले सिंह अथवा चीतों को खुले जंगलों में छोड़ा जाता है तो इनके नरभक्षी हो जाने का खतरा भी बना रहता है। ऐसे में अभयारण्यों में चीतों अथवा सिंहों के पुनर्वास के प्रयास लाचार व परेशान वनवासियों के लिए आफत के अभयारण्य ही सिद्ध होंगे।

इस जंगल को कूनो-पालपुर अभयारण्य के नाम से करीब ढाई दशक पहले अधिसूचित किया गया था। कूनो नदी इस अभयारण्य के वन्य प्राणी व वनवासियों की जीवन रेखा रही है। गुजरात के गिर अभयारण्य के एशियाई सिंह बसाने के लिए हज़ारों आदिवासियों को एक दशक पहले खदेड़ दिया गया था। उनका अब तक न तो स्तरीय पुनर्वास हुआ है और न ही मुआवज़ा मिला है। नतीजतन ये आदिवासी आज भी आक्रोशित हैं। सहरिया मुक्ति मोर्चा के बैनर तले आदिवासी समूह अपने हकों के लिए संघर्ष कर रहे हैं।

यह हमारे देश में ही संभव है कि वन और वन्य प्राणियों का आदिकाल से संरक्षण करते आ रहे आदिवासियों को बड़ी संख्या में जंगलों से केवल इस बिना पर बेदखल कर दिया गया कि इनका जंगलों में रहना वन्य जीवों के हित में नहीं है।

देश के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम का इतिहास जितना पुराना है आदिवासियों को वनों से बेदखल कर वन अभयारण्यों की स्थापना का इतिहास भी लगभग उतना ही पुराना है। इसकी बुनियाद अंग्रेज़ों के निष्ठुर और बर्बर दुराचरण पर टिकी है। दरअसल जब मंगल पांडे ने 1857 के संग्राम का बिगुल फूंका था तब मध्यप्रदेश के हिल स्टेशन पचमढ़ी की तलहटी में घने जंगलों में बसे गांव हर्राकोट के कोरकू मुखिया भूपत सिंह ने भी फिरंगियों के विरुद्ध विद्रोह का झंडा फहराया हुआ था। प्रथम स्वतंत्रता संग्राम तो अंग्रेज़ों ने जल्दी काबू में ले लिया, लेकिन भूपत सिंह को हर्राकोट से विस्थापित करने में दो साल का समय लगा। इस जंगल से आदिवासियों की बेदखली के बाद इसे 1859 में बोरी आरक्षित वन घोषित कर दिया गया। हैरानी इस बात पर है कि तभी से हम विदेशियों द्वारा खींची गई लकीर के फकीर बने चले आ रहे हैं। नीति और तरीके भी वही हैं। दरअसल हम विकास के किसी भी क्षेत्र में विकसित देशों का उदाहरण देने के आदी हो गए हैं। दरअसल, हमें वन, वन्य जीव और वनवासियों के संदर्भ में अपने भूगोल, वन और वन्य जीवों से आदिवासियों के सम्बंधों और स्थानीय पारिस्थितिकी तंत्र को समझने की ज़रूरत है।

जिन भूखण्डों पर वन और प्राणियों की स्वच्छंद अस्मिता है, मानव सभ्यता भी वहां हज़ारों-हज़ार साल से विचरित है। दरअसल युरोपीय देशों में वनों के संदर्भ में एक अवधारणा 'विल्डरनेस' प्रचलन में है, जिसके मायने हैं मानवविहीन सन्नाटा, वीराना। जबकि हमारे पांच हज़ार साल से भी ज़्यादा पुराने ज्ञात इतिहास में ऐसी किसी अवधारणा का उल्लेख नहीं है। इसी वजह से हमने अभी तक जितने भी अभयारण्यों अथवा राष्ट्रीय उद्यानों से रहवासियों का विस्थापन किया है वहां-वहां वन्य जीवों की संख्या अप्रत्याशित ढंग से घटी है। सरिस्का और रणथम्भौर इसके उदाहरण हैं। सच्चाई यह है कि करोड़ों अरबों रुपए खर्चने के बावजूद ये जीवन विरोधी नीतियां कारगर साबित नहीं हुई हैं। बल्कि अलगाव की उग्र भावना पैदा करने वाली विस्थापन व संरक्षण की इन नीतियों से स्थानीय समुदाय और वन विभाग के बीच टकराव के हालात बने और आदिवासियों को वनों

और प्राणियों का दुश्मन बनने पर भी विवश किया गया।

शिवपुरी ज़िले का ही करैरा स्थित सोन चिड़िया अभयारण्य गलत वन नीतियों का माकूल उदाहरण है। 1980 में यहां पहली बार एक किसान ने दुर्लभ सोन चिड़िया देखकर कलेक्टर शिवपुरी को इसकी सूचना दी थी। तत्कालीन कलेक्टर ने वन अधिकारियों के साथ जब इस अद्भुत पक्षी को देखा तो इस राजस्व वन को अभयारण्य बना देने का सिलसिला शुरू हुआ और 202 वर्ग कि.मी. वन 1982 में सोन चिड़िया के स्वच्छंद विचरण के लिए आरक्षित कर दिया गया। इसके बाद देखते-देखते झरबेरियों से भरे इस वन खण्ड में सोन चिड़िया और काले हिरणों की संख्या खूब बढ़ गई। लेकिन इनके संरक्षण के लिए इस अभयारण्य क्षेत्र में आने वाले 11-12 ग्रामों के विस्थापन की प्रक्रिया ने ज़ोर पकड़ा तो देखते-देखते करीब साढ़े तीन हज़ार काले हिरणों और चालीस सोन चिड़ियाओं की आबादी के चिन्ह मिट गए। नतीजतन विस्थापन का सिलसिला जहां का तहां थम गया। यहां ऐसा इसलिए संभव हुआ क्योंकि विस्थापित किए जाने वाले गांव आदिवासी बहुल ग्राम नहीं थे। इनमें सवर्णों और पिछड़ी जातियों की बहुसंख्यक आबादी थी। ये राजनीतिक व प्रशासनिक हलकों में प्रभाव रखते थे।

दरअसल जब यहां सहजीवन को मिटाने वाली नीतियां अपनाई जाने लगीं तो ग्रामीणों के संगठनों ने 'न रहेगा बांस, न बजेगी बांसुरी' अपनाई और कुछ ही दिनों में वन्य जीवों की मनोहारी छलांगों की टांगें काट दी गई और उड़ानों के पर कतर दिए गए। करैरा अभयारण्य एक चेतावनी है कि नीतियों पर पुनर्विचार नहीं किया गया तो मानव और प्राणियों के बीच कटुता का भाव बढ़ेगा जिसका असर वन और वन्य प्राणियों पर ज़्यादा पड़ेगा।

सच पूछा जाए तो वन और प्राणियों के सामूहिक विनाश का कारण तो औद्यौगिक लिप्सा, वैध-अवैध खनन और वह लकड़ी माफिया है जो राजनीतिक व प्रशासनिक साठ-गांठ के बूते समूची वन संपदा का धड़ल्ले से दोहन करने में लगे हैं। पिछले चालीस साल में आधुनिक विकास के नाम पर जितनी भी परियोजनाओं की आधार शिलाएं रखी गई हैं उनके निर्माण के चलते चार करोड़ लोग विस्थापन का अभिशाप झेल रहे हैं। कूनो पालपुर तो एक उदाहरण है। यह भी केवल संयोग नहीं है कि अधिकांश विस्थापित आदिवासी मछुआरे और सीमांत किसान हैं।

कूनो पालपुर से बेदखल आदिवासी टकराव के मूड में आ गए हैं। दरअसल कूनों में गिर के एशियाई सिंह बसाए जाने की योजना एक दशक पूर्व इस इलाके के चौबीस वनवासी ग्रामों को विस्थापित कर अमल में लाई गई थी। विस्थापितों को यह भरोसा दिया गया था कि सर्व सुविधायुक्त पुनर्वास स्थलों के अलावा समुचित मुआवज़ा भी मिलेगा। 1998 से 2002 तक पुनर्वास की प्रक्रिया के तहत विस्थापितों को आंशिक सुविधाएं हासिल भी कराई गईं। परंतु मुआवज़े की जो धनराशि 2003 में देनी चाहिए थी उससे इन्हें आज तक वंचित रखा गया है। हालांकि कई मर्तबा मांगों के ज्ञापन और प्रदर्शन के बाद दिसंबर 2007 में 4 करोड़ 71 लाख रुपए की राशि वनमंडल द्वारा एक सूची के साथ कलेक्टर श्योपुर को दी भी गई। लेकिन राजस्व महकमा उस राशि और फाइल पर कुण्डली मारकर बैठ गया, जिससे कुछ भेंट पूजा की व्यवस्था बने। दाने-दाने को मोहताज सहरिया आदिवासी रिश्वत कहां से दें? विस्थापन के ऐसे ही कारणों के चलते इनके जीवन स्तर सम्बंधी अध्ययनों में पाया गया है कि इनकी आमदनी 50-90 प्रतिशत तक घट गई है। ऐसे अध्ययन सतपुड़ा टाइगर रिज़र्व, माधव राष्ट्रीय उद्यान, शिवपुरी और कूनो पालपुर में किए गए हैं। कर्नाटक में बिलीगिरी रंगास्वामी मंदिर अभयारण्य में लगी पाबंदी के कारण सोलिंगा आदिवासियों को दो दिन में एक ही मर्तबा भोजन नसीब हो पा रहा है।

सच्चाई तो यह है कि आधुनिक और औद्योगिक विकास का जो भी मार्ग है, वह आदिवासियों की ज़मीन से होकर गुज़रता है। उद्यानों और अभयारण्यों में चीते बसाने हों अथवा सिंह, या उद्योग की बात हो या खदानों की, उजाड़ा आदिवासियों को ही जाता है। दरअसल, जितनी कसरत सरकार नाकाम विस्थापन में करती है, उतनी यदि इनको यथास्थान बनाए रखते हुए इन्हें वन आधारित रोज़गारों से जोड़ा जाए तो वन और वन्य प्राणियों की सुरक्षा की ज़्यादा उम्मीद की जा सकेगी। ***(स्रोत फीचर्स)***